नवरचना

NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 10, अंक 1&2, जून–दिस. 2024

नवरचना *NAVRACHNA*

वर्ष 10, अंक 1&2, जून–दिस. 2024

सम्पादक

प्रोफेसर वी. पी. सिंह

सह–सम्पादक

प्रोफेसर राजेश मिश्र
प्रोफेसर प्रहलाद मिश्र
प्रोफेसर अरविन्द चौहान
प्रोफेसर परवेज अहमद अब्बासी
प्रोफेसर सत्या मिश्रा

प्रबन्ध सम्पादक

डा. पंकज कुमार सिंह
डा. श्रीपाल चौहान
डा. राजाराम सिंह
डा. मन्जू गोयल
डा. प्रीति तिवारी

सम्पादकीय सलाहकार परिषद

प्रो. हरीश दोषी, सूरत
प्रो. सुरजन सिंह शर्मा, साहिबाबाद
प्रो. जैनेन्द्र कुमार दोषी, उदयपुर
प्रो. आनन्द कुमार, दिल्ली
प्रो. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
प्रो. रणविन्दर सिंह सन्धू, अमृतसर
प्रो. कामेश्वर चौधरी, लखनऊ
प्रो. चारुलता सिंह, दिल्ली
प्रो. रघुनन्दन शर्मा, पटना
प्रो. आभा चौहान, जम्मू
प्रो. राजेश गिल, चन्डीगढ.
प्रो. अनीसा शफी, श्रीनगर
प्रो. ज्ञान प्रकाश पांडे, शिलचर
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. मौहम्मद सलीम, वाराणसी
प्रो. जगदीश कुमार पुण्डीर, मेरठ
प्रो. प्रदीप सिंह चूडावत, बडोदरा
प्रो. ए. पी. सिंह, वाराणसी
प्रो. खजान सिंह सांगवान, रोहतक
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर

प्रो. ज्वाला प्रसाद पचौरी, श्रीनगर
प्रो. कमला गणेश, मुंबई
प्रो. माधव गोविन्द, दिल्ली
प्रो. आर. जी. सिंह, भोपाल
प्रो. आर. डी. मोर्य, महू
प्रो. विपुल सोमानी, सूरत
प्रो. जे. सी. पटेल, अहमदाबाद
प्रो. जय प्रकाश त्रिवेदी, आनन्द
प्रो. हेमीक्षा राव, राजकोट
प्रो. जे. पी. सिंह, पटना
प्रो. भगवान सिंह विष्ट, नैनीताल
प्रो. मनजीत चर्तुवेदी, वाराणसी
प्रो. रवि प्रकाश पांडे, वाराणसी
प्रो. तेज मल दक, उदयपुर
प्रो. सतीश कुमार शर्मा, चंडीगढ़
प्रो. रश्मि जैन, जयपुर
प्रो. अनिल भार्गव, जयपुर
प्रो. मनीष कुमार वर्मा, लखनऊ
प्रो. मधु सिसौदिया, वाराणसी
प्रो. श्वेता प्रसाद, वाराणसी

डा. सर्वेश दत्त त्रिपाठी, दिल्ली
डा. विनीता सिंह, रांची
डा. स्मिता सुरेश अवाचार, ओरंगाबाद
डा. पद्मा रानी, मणिपाल
डा. आशुतोष व्यास, चित्तौड़गढ़
डा. राज कुमार कायस्थ, शिमला
डा. भगवती प्रसाद बडोला, धर्मशाला
डा. मौ. अकरम, अलीगढ.
डा. वाई. एस. भदौरिया, लखनऊ
डा. विशेष कुमार गुप्ता, मुरादाबाद
डा. श्रुति सिंह, दिल्ली
डा. रविन्द्र बंसल, बरेली
डा. महेश शुक्ला, रीवा
डा. मनु गौराहा, उज्जैन
डा. लता कुमार, मेरठ
डा. मनीष पांडे, गोरखपुर
डा. अय्यूब खान, ग्वालियर
डा. आशीष सक्सेना, इलाहाबाद
डा. इति तिवारी, इलाहाबाद
डा. प्रमोद कुमार शर्मा, रायपुर

ISSN No. 2454-2458 *@ NAVRACHNA* *www.grefiglobal.org*

नवरचना NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

ISSN NO. 2454–2458

वर्ष 10	अंक 1&2	2024

अनुक्रमणिका

शोध लेख

दक्षिणी असम के कछार जनपद में ग्रामीण–नगरीय अन्तःक्रिया के प्रतिमान 3
वीरेन्द्र पाल सिंह व मधुमिता चक्रवर्ती

सामाजिक विकास के आयाम 33
श्यामा चरण दुबे

स्वयं सहायता समूहः ग्रामीण समुदाय में परिवर्तन का नवीन आयाम 41
अनुपमा यादव व सत्या मिश्रा

ए० एम० शाह एवं उनका समाजशास्त्र में योगदान 51
सत्या मिश्रा

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2024
वर्ष 10 अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2024, पृ. 33–40

सामाजिक विकास के आयाम

श्यामा चरण दुबे*

1. सामाजिक विकास : सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

बौद्धिक संवाद में सामाजिक विकास की अवधारणा महत्वपूर्ण रही है। जैवकीय विज्ञानों में डारविनवाद की स्वीकृति ने सामाजिक डारविनवाद की धारा को जन्म दिया। समग्र मानव इतिहास को ध्यान में रख मानव समाज के उद्‌विकास का प्रक्रम और उसके मुख्य चरण निर्धारित करने के अनेक प्रयत्न किए गए। एक बहुस्वीकृत मान्यता के अनुसार मानव समाज के उद्‌विकास के तीन मुख्य चरण थे। प्रारम्भिक आद्‌य स्तर (सेवेजरी), बर्बर स्तर और सभ्यता का स्तर। विवाह की संस्था के बारे में माना गया कि उसका विकास क्रमशः स्वेच्छाचार, समूह विवाह, बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व और एक पति–पत्नी के स्तरों में हुआ। इसी तरह धर्म के विकास के तीन चरण निधारित किए गए। जीवनवाद, बहुदेववाद और एक ईश्वरवाद। अप्रमाणित संकल्पनाओं पर आधारित ये अवधारणाएँ अब गौण होकर पृष्ठभूमि में चली गई हैं उनका तथ्यात्मक आधार निर्बल पाया गया और नए अंतर–अनुशासनिक अध्ययनों ने उनके निष्कर्ष को भ्रामक पाया।

सामाजिक विकास, एक प्रत्यय के रूप में, एक बार फिर सम–सामयिक चर्चाओं के केंद्र में है। नए संदर्भों में उसने नया रूप ग्रहण किया है। विकास की रूढ़ अवधारणाओं पर अनुभव और चिंतन ने अनेक प्रश्नचिन्ह लगा दिए हैं। पूँजीवादी विचारधारा, राष्ट्रीय आय में वृद्धि को केंद्रीय महत्व देती है। वितरण के प्रश्न पर वह प्रायः मौन रहती है, राष्ट्रीय अभिवृद्धि का रिसाव, उसके अनुसार, जनसाधारण को भी लाभ पहुँचा सकता है। विकासशील देशों का पिछले पाँच दशकों का अनुभव निराशाजनक रहा है, इन देशों में समृद्धि के छोटे छोटे द्वीप अवश्य उभरे है, परंतु सामाजिक न्याय एक सुदूर और असभंव प्रायः आदर्श ही रहा है। विश्व व्यवस्था में कुछ देशों ने केंद्रों का रूप ले लिया है, विकासशील देश उनकी परिधि में आते हैं। केंद्र में सम्पन्नता है, विराट परिधि में अपेक्षाकृत विपन्नता। विकासशील देशों

में भी केंद्र और परिधि का यह द्वैत देखा जा सकता है। विश्व व्यवस्था के केंद्र परिधि के देशों के संसाधनों का दोहन करते हैं। केंद्र के देशों की समृद्धि और जीवन यापन के उच्च स्तर का आधार परिधि के देशों का शोषण है। विकासशील देशों में भी केंद्र और परिधि का विभाजन स्पष्ट है। इन केंद्रों में विलासिता की संस्कृति पनपती है और परिधि के बहुजन वंचनाओं और वर्जनाओं की जिंदगी जीते है। विश्वव्यवस्था के सशक्त केंद्र और विकासशील देशों के केंद्र आर्थिक और राजनीतिक धरातल पर एक दूसरे के पूरक और समर्थक होते हैं। उनकी सम्मिलित शक्ति विद्रोहों और क्रांतियों को कुचल देने में भी समर्थ होती है। मार्क्सवाद इस विचारधारा और कार्यनीति का विकल्प था। सर्वहारा को समर्पित मार्क्सवाद की रणनीति ने जनसाधारण की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं को तो पूरा किया, परंतु उसकी उपलब्धियाँ सीमित रहीं। विरोधियों से घिरे साम्यवादी देशों को रक्षात्मक आयुधों पर अनुपातहीन व्यय करना पड़ा। विश्व–शक्ति बनने के मोह ने इस खर्च में और भी वृद्धि की। सीमित आर्थिक संसाधनों के कारण आर्थिक विकास के कार्यक्रम की गति धीमी रही, उसका प्रबंधन भी अकुशल और अक्षम था। कठोर अनुशासन और कुनीतियों ने मानव की आत्म–गौरव की भावना को क्षत–विक्षत कर दिया। मार्क्सवाद में कुछ और अंतर्विरोध थे। बचपन से दी गई सघन मतवादी शिक्षा भी जातीय भावना को दबा नहीं सकी। धर्म और संस्कृति को निर्मूल करने में भी मार्क्सवाद असफल रहा। नेताओं के अँह और स्वार्थ की टकराहट ने व्यवस्था को कमजोर बनाया। सर्वहारा की स्थिति कुछ ही बेहतर हो पाई। रूस और पूर्वी यूरोप की साम्यवादी व्यवस्था अब ध्वस्त हो चुकी है। चीन पूँजीवादी व्यवस्था से नए समीकरण बना रहा है। पूँजीवादी खेमे में आशा और उल्लास की नई लहर दौड़ रही है। पूँजीवाद से असंभव अपेक्षाएँ की जा रही है। विकासशील देशों का सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक संतुलन अभी तक अस्पष्ट है। नई व्यवस्था में यह और भी बिगड़ सकता है। हमें सुसंगत और सार्थक विकल्पों की तलाश जारी रखना है।

आर्थिक विकास को व्यक्तिगत स्पर्धा पर ही नहीं छोड़ा जा सकता। विकास की सामाजिकता पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। इस संदर्भ में सामाजिक विकास की अवधारणा अत्यंत प्रांसगिक बन जाती है। इसके अंतर्गत कई ऐसे विचारबिंदु आते हैं, जो अब तक प्रायः उपेक्षित रहे है।

विकास की प्रक्रिया केवल व्यक्तियों और छोटे समूहों पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं रख सकती, उसे उन बड़े समुदायों पर भी ध्यान देना चाहिए जिनमें समाज के बहुसंख्य विपन्न और साधनहीन लोग हैं। ऐसे समुदायों की उपेक्षा समाज में विसंगति और अस्थिरता पैदा करेगी। यह स्थिति विकास अवरोधक होगी। व्यापक समुदायों के हितों पर केंद्रित विकास के लक्ष्यों का पुनर्निधारण भी आवश्यक होगा। इस प्रक्रिया में उन सबकी सहभागिता आवश्यक होगी जिनके विकास की योजनाएँ बनाई जा रहीं हैं। विकास के लक्ष्य उन पर

थोपे नहीं जा सकते। इस क्षेत्र में आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए। यह सहभागिता आर्थिक और सांस्कृतिक लक्ष्यों में तालमेल करने में सहायक होगी और उन तत्वों के प्रवेश पर भी रोक लगाने में सक्षम होगी जो अपने दूरगामी परिणामों में उन्हें विस्थापित करते हैं, उनकी सामूहिकता के ह्रास के कारण बनते हैं और उन्हें साधनहीनता की कगार तक धकेल देते हैं। साथ ही विकास की प्रक्रिया को समाज की दो अन्य श्रेणियों पर भी विशेष ध्यान देना है। पहली श्रेणी उनकी है, जो शारीरिक रूप से विकलांग हैं, मानसिक रूप से विचलित अवस्था में हैं या रुग्ण हैं या जो वृद्ध और बेसहारा हैं। सामाजिक शोषण की शिकार, अपमानित और बेसहारा स्त्रियाँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। इनकी देखभाल और सुरक्षा समाज का उत्तरदायित्व है, विकास की योजनाओं में इनके लिए समुचित समुचित प्रावधान होना चाहिए, दूसरी श्रेणी की समस्याएँ और भी गंभीर तथा जटिल हैं। अनेक ऐसे समूह हैं जिनसे समाज व्यवस्था गंदे और कठोर काम तो कराती हैं, किंतु प्रजातीय अथवा जातिगत दुर्भावना के कारण उन्हें पग–पग पर अपमानित और प्रताड़ित भी करती हैं। क्या ये समूह समता और सामाजिक प्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं हैं? शेष समाज से उनके सावयवी संबंध हैं, हम उन्हें कर्तव्यबोध तो कराते हैं, पर उनका जाग्रत अधिकार बोध हमें असह्य हो जाता है। सामाजिक विकास की योजनाएँ उनकी सामाजिक न्याय की माँग की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। स्त्रियों की स्थिति तो और भी उलझन भरी है। मानव जाति का लगभग आधा भाग युग–युग से पोषित रूढ़ियों की जकड़ में है। क्षेत्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि जैसे–जैसे आर्थिक विकास होता है, स्त्रियों पर नए बंधन लगने लगते हैं। धर्मान्धता का विस्फोट स्त्रियों के कार्यक्षेत्र को संकुचित कर उनके निर्णय के अधिकारों पर अंकुश लगाता है। क्या विकास इन श्रेणियों के मानवाधिकारों की उपेक्षा कर सकता है? हमें विकास और प्रगति के विश्वसनीय सूचक विकसित करने होंगे और सामाजिक प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी करना होगा, जिससे हमें समय रहते चेतावनी मिलती रहे और हम लक्ष्य–भ्रष्ट होने से बच सकें। ये सभी मुद्दे सामाजिक विकास के दायरे में आते हैं।

सामाजिक विकास की अवधारणा को मानवीय आवश्यकताओं और उनके अनुपूरक मूल्यों से जोड़कर समझा जा सकता है। मानवीय आवयकताओं का वर्गीकरण छः मुख्य वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक की पूर्ति के लिए सामाजिक आधार अपेक्षित है।

पहले वर्ग में वे आवश्यकताएँ आती हैं जिन पर मानव का अस्तित्व आश्रित है; पोषण, आश्रय, वस्त्र रोजगार, निवारक और निरोगकारी चिकित्सा तथा व्यक्ति और संपति की सुरक्षा। सामाजिक धरातल पर हम आवश्कताओं की पूर्ति के लिए अनेक कदम आवश्यक हैं। प्राथमिकता के आधार पर सार्वजनिक खाद्य व्यवस्था, शुद्ध पेयजल वितरण, और गरीब तबके के लिए गृह निर्माण और सस्ते वस्त्र विक्रय का प्रबंध विकास योजनाओं का उद्देश्य होगा। राज्य कानून और व्यवस्था के लिए पुलिस की नियुक्ति और उसके ऊपर नियन्त्रण का

उत्तरदायी होगा। जीविका उपार्जन के साधन जुटाना भी नियोजन का उद्देश्य होगा। स्वास्थय एवं शिक्षा की व्यवस्था तथा पर्यावरण का प्रबंधन इस वर्ग की कार्यसूची के अन्य मुद्दे होंगें।

दूसरे वर्ग में समाजकीय आवश्यकताएं आती हैं। इनके अंतर्गत जीवनक्षम समुदायों का निर्माण, सामुदायिक भावना तथा समांगी समाज का विकास, सामाजिक सहमति, संघर्ष का नियंत्रण और पर्यावरण तथा सामाजिक अनुशासन के प्रतिमानों की स्वीकृति आते हैं। सामाजिक निर्णयों और उपक्रमों में सहभागिता मी संभावना का विकास तथा उपलब्धियों के लिए सार्वजनिक मान्यता तथा पुरस्कार की गणना भी इसी श्रेणी में की जाएगी।

तीसरा वर्ग है सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का। इनके मुख्य बिंदु हैं व्यक्तिगत स्वाधीनता, आत्म–सम्मान, अवकाश तथा उसका रचनात्क उपयोग और उन्नति तथा उपलब्धि के पर्याप्त अवसर। सांस्कृतिक तथा धार्मिक सहिष्णुता का विकास भी इसी वर्ग में आता है।

समाज कल्याण से जुड़ी आवश्यकताओं का चौथा वर्ग भी महत्वपूर्ण है। कमजोर, अपंग, विकलांग और सुभेद्य समूहों की सुरक्षा के लिए भी योजनाबद्ध प्रयत्न होना चाहिए। वंचित और दलित समुदायों के प्रति बरती जाने वाली विभेदक नीतियों की समाप्ति भी आवश्यक है।

पाँचवा वर्ग अनुकूलन की आवयकताओं का है। इसके अंतर्गत जो कार्यक्रम आएगें वे हैं सामाजिक, सांस्कृतिक और मनौवैज्ञानिक पर्यावरण में आ रहे परिवर्तनों का आकलन और उनसे संबद्ध अनुकूलन की दिशा और गति का निर्देश, मानसिक चेतना का विस्तार करने वाली शिक्षा, अनुकूलन का वातावरण तैयार करने वाली सक्षम संचार नीतियाँ और अग्रिम चेतावनी व्यवस्था जिससे समाज आगे आने वाले संकटों और संघातों के लिए अपने आप को तैयार कर सके।

मानवीय आवश्यकताओं का छठा और अंतिम वर्ग है प्रगति संबंधी आवश्यकताओं का। समाज को आने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान कर सकने की अपनी क्षमता को तीक्ष्ण बनाना होगा और उनका समाधान खोज सकने की अपनी योग्यता को भी विकसित करना होगा। इन प्रयत्नों को निरंतर नियोजन और विकास कार्यक्रमों का समर्थन आवश्क है। वैज्ञानिक और प्राविधिक अनुसंधान भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए जरुरी हैं। साथ ही सामाजिक प्रंबंधन का विकास भी आवश्यक है। ज्ञान के नए सीमांतों की खोज और उनके व्यवहृत रुपों के विकास के बिना भविष्य अनिश्चित और अंधकारमय हो सकता है।

विकास की अंधी और विवेकहीन स्पर्धा विकासशील देशों के लिए विघातक सिद्ध होगी। सामाजिकता का ह्रास उनके सांस्कृतिक, व्यक्तित्व में विकृतियाँ उत्पन्न करेगा। संस्थागत ढाँचे का विघटन अनेक को असहाय बना देगा; उनके पुराने अवलंबन छिन जाएंगें, सहारे के नए आधार विकसित नहीं हो पाएंगे। असंतुलित विकास नए तनावों और संघर्षों को जन्म देगा। सामाजिक और सांस्कृतिक कारक विकास के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करेंगें। विकल्प के रुप में सामाजिक विकास की संभावनाएँ विकासशील देशों के लिए अधिक उपयुक्त हैं। समस्या उलझन भरी है। विकास की गति शायद इस आग्रह से कुछ धीमी हो जाए पर सामाजिक आधार के बिना विकास यदि हमें दो कदम आगे ले जाएगा तो शायद चार कदम पीछे भी ले जाए। सामाजिक विकास के बिना सामाजिक न्याय संभव नहीं है।

2. भारतीय परिदृश्य

सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत के आर्थिक चिंतन और नीति–निर्धारण में बड़े नाटकीय परिवर्तन हुए हैं। विश्व व्यवस्था में आए बदलाव से देश स्तब्ध हो गया। अर्थ तंत्र के अपने पुराने मुहावरे को भूल कर वह अपने आर्थिक लक्ष्यों के पुर्न–निर्धारण में लग गया। प्रायः एक दशक के अदूरदर्शी आर्थिक प्रबंधन ने देश की अर्थ व्यवस्था को जर्जर कर दिया था, विदेशी मुद्रा का संचय प्रायः समाप्त था, मुद्रा स्फीति बढ़ रही थी। खाड़ी युद्ध से देश का संकट और भी गहराया, नए संदर्भ में भारत–सोवियत मैत्री अर्थहीन हो गई। बाज़ार बंधुत्व और विश्व आर्थिक व्यवस्था में समायोजन भारत के लिए मनमोहक स्वप्न बन गए। अपमान का कड़वा घूँट पीकर हमने बहु–आलोचित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने हाथ पसारे और कड़ी शर्तों पर इनसे मिले ऋण को बड़े गद्‌गद भाव से स्वीकार किया। इस प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं का हस्तक्षेप बढ़ा और हम उनके संकेतों पर अपनी नीतियाँ निर्धारित करने को विवश हुए। लातीनी अमेरिका (Latin America) और कुछ अन्य देशों के अनुभव से हमनें सबक नहीं लिया। हम ऋण जाल में फँस कर कहीं आने वाली पीढ़ियों को बंधक तो नहीं बना रहे हैं? यह स्पष्ट है कि नई आर्थिक नीतियों की कड़ी चोट हमारे समाज कल्याण कार्यक्रमों पर पड़ी है। हमारा ध्यान सकल राष्ट्रीय उत्पाद पर केंद्रित हो गया है, सकल राष्ट्रीय कल्याण का आदर्श पृष्ठभूमि में जाकर प्रायः अदृश्य हो गया है। आग की लपटों की तरह फैलती महँगाई ने गरीबी की रेखा की अवधारणा को अर्थहीन बना दिया है। आज के बाज़ार भावों के चलते शायद देश की साठ प्रतिशत जनसंख्या इस रेखा के नीचे आ गई है। यदि देश का मध्य वर्ग अपने जीवन–यापन के स्तर को लेकर उद्वेलित है, तो निम्नवर्ग की चिंताओं की कल्पना ही कठिन है क्योंकि वह अपने अस्तित्व को लेकर आतंकित है। हमारे सामने केवल आर्थिक लक्ष्य हैं, समाज कल्याण की अपेक्षाएँ और आकाँक्षाएँ धुंधली हो गई हैं।

यह कह सकना कठिन है कि भविष्य की अर्थव्यवस्था कैसी होगी। आर्थिक सत्ता के तीन–चार केन्द्र अभी तो एक दूसरे से पूरा सहयोग कर रहे हैं। पर संभव है कि आने वाले दशक में उनमें प्रतिस्पर्धा बढ़े। संसार के शेष देश उनकी अधिकार परिधि में आते हैं। प्रभुता प्राप्त और अधीनस्थ देशों का अंतर स्पष्ट दिखाई देने लगा है। यह प्रतिरुप शायद काफी समय तक चले और इसके चलते अनेक राज्यों की संप्रभुता नाम मात्र की रह जाए। आश्रित राज्यों की अर्थनीति ही नहीं उनकी राजनीति और समाजनीति का संचालन भी बाहरी सूत्र करेंगें। यह विश्वास करना कठिन है कि उनका हस्तक्षेप शुद्ध परहितवाद से प्रेरित होगा। नई स्थिति में बाज़ार का रुख नीति–निर्धारण के दिशा संकेत देगा। नियोजन का प्रयोजन धीरे–धीरे क्षीण और अर्थहीन होता जाएगा, भले ही हम योजना आयोग को औपचारिक रुप से समाप्त न करें। उद्यमप्रवृत्ति और साहसी पूँजी निवेश की क्षमता अर्थतंत्र में पुरस्कृत होगी। प्रारंभिक संकेतों से प्रतीत होता है कि विलास की सामग्री का उत्पादन बढ़ेगा, जीवन की आवश्कताओं के मूल्य बढ़ते जाएंगे। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में खाद्यान्नों के मूल्य बढ़े हैं, जीवन रक्षक औषधियाँ मध्यवर्ग की क्रय शक्ति के भी बाहर होती जा रहीं हैं। कहा यह जा रहा है कि हमें डेढ़–दो वर्ष संयम और सहनशीलता से कठिनाइयों को सहना पड़ेगा। नई अर्थनीति के परिणाम जब आना शुरु होंगे तब हमारी क्रय शक्ति बढ़ेगी और हम बाज़ार मूल्य पर शिक्षा, चिकित्सा, आवास, सार्वजनिक परिवहन के साधन आदि खरीद सकेंगें। ये इन्द्रधनुषी स्वप्न सुदूर भविष्य के हैं। विश्व राजनीति कि तनाव और मोड़ उन्हें निष्क्रिय कर सकते हैं।

सम–सामयिक भारतीय परिदृश्य का विश्लेषण हमें भविष्य के प्रति आशंकित करता है। वायदों और नारों के बावजूद क्या गरीबी हटी है? शायद उसका परिमाण कुछ और बढ़ा है। अस्पृश्यता सिर्फ कागज पर हटी है, व्यावहारिक धरातल पर उसका रुप और भी क्रूर हो गया है। बढ़ते सामाजिक तनाव के पर्यावरण में अनुसूचित जातियों और जनजातियों का शोषण और बढ़ा है, उन्हें अमानवीय प्रताणनाओं को सहन करना पड़ रहा है। उनके विकास के नाम पर विपुल धन का व्यय हुआ है, किन्तु इससे उनके जीवन स्तर में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। सच तो यह है कि विकास की विराट योजनाएँ, औद्योगीकरण, जल–विद्युतीय परियोजनाएँ, सिंचाई के बड़े बाँध, खनिज उत्खनन आदि–उन्हें विस्थापित करती है, उनकी सामाजिकता का ह्रास करती है, पर्यावरण में उपलब्ध उनकी जीविका के साधनों से उन्हें वंचित करती है, और थोड़ा सा मुआवजा देकर उन्हें अनिश्चय के अंधेरे में धकेल देती है। समाज के विपन्न वर्ग का आर्थिक शोषण तो हो ही रहा है, उसे बढ़ती सामाजिक हिंसा का शिकार भी बनाया जा रहा है। विकलांगों की कल्याण योजनाएँ केवल प्रतीकात्मक महत्व की हैं। पारिवारिक विघटन वृद्धावस्था को एक कठिन समस्या बना रहा है। कुछ राज्यों ने वृद्धों के लिए कृपाराशि का प्रावधान किया है पर वह भी मात्र सांकेतिक महत्व की है। स्त्री को

सामाजिक समता केवल प्रस्तावों में ही मिली है। सार्वजनिक सेवाओं में उनका अनुपात संतोषप्रद नहीं है। कोई भी राजनीतिक दल उन्हें तीस प्रतिशत सीटों पर भी चुनाव लड़ने का अवसर नहीं दे सका। स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न के नए–नए तरीके अपनाए जा रहे हैं। दहेज मृत्यु के समाचार इतने सामान्य हो गए हैं कि वे हमें विचलित नहीं करते। इन प्रश्नों का हल बाज़ार के तर्क के पास नहीं है। सामाजिक विकास की कुशल और कारगर रणनीति के बिना हम अपने ही बनाए दलदल में और भी गहरे धंसते जाएंगे।

अस्तित्व संबंधी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति पर विचार कीजिए। हरित क्रांति के कारण भारत में खाद्यान्नों का पर्याप्त भंडार है, फिर भी देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग –निचले तबके के लोग, विशेषकर स्त्रियाँ और बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। उनकी क्रयशक्ति सीमित है, अन्न और तेल के भाव बढ़ रहे हैं। सब्जियाँ और फल उनकी पहुँच के बाहर हैं। शुद्ध पेयजल उपलब्ध कराने की योजनाएँ तो बार–बार बनीं पर उनका कार्यान्वयन यत्र–तत्र ही हुआ। आवास समस्या पर कुछ प्रयोगात्मक काम ही हुआ है जो देश के दो–तीन प्रतिशत आवासहीनों को भी घर नहीं दे सका है। सच तो यह है कि हमने झुग्गी–झोपड़ियों से समझौता कर लिया है। उन्हें बिजली दे दी जाती है, पानी का भी थोड़ा बहुत प्रबंध कर दिया जाता है। अन्य सुविधाएँ प्रायः नहीं के बराबर होती हैं। वस्त्र समस्या उतनी गंभीर नहीं हैं, किन्तु शीत और वर्षा से रक्षा के साधन बहुत से लोग नहीं जुटा पाते। देश में बेरोजगारी बहुत है और नई उद्योगनीति के पहले चरण में वह और बढ़ेगी। यह चिन्ता का विषय है। कानून और व्यवस्था की समस्या दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। राजनीतिक संस्कृति की विकृतियों ने उसे और भी बिगाड़ा है। हमारी सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएँ और शिक्षा व्यवस्था घटिया दरजे की है, इन क्षेत्रों में स्तरीय सेवाओं के लिए अच्छा खासा मूल्य चुकाना पड़ता है। पर्यावरण संबंधी चेतना का कुछ विस्तार हुआ है पर वह गाँवों तक नहीं पहुँची। पर्यावरण का प्रबंधन अभी भी अपर्याप्त है। अस्तित्व के संकट से जुड़े बीज प्रश्नों की गंभीरता को हमने ठीक से समझा ही नहीं है।

समाजकीय आवश्यकताओं की निरंतर उपेक्षा की गई है जिसके कारण सामुदायिक भावना का ह्रास हुआ है। विकास की प्रक्रिया जीवनक्षम समुदायों को नष्ट कर रही है, नगरों के चुम्बकीय आकर्षण से ऐसे समुदायों में क्षरण तो बहुत पहले आरंभ हो गया था। दोषपूर्ण शिक्षा और झूठे आधुनिकीकरण ने परंपरागत संस्थाओं का अवमूल्यन कर दिया है। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों ने धड़ेबंदी और संघर्ष को बढ़ाया है, सहमति के निर्णय अपवाद बनते जा रहे हैं। सामुदायिक विकास योजना ने अपने आरंभिक चरण में सामुदायिकता को बढ़ाने का प्रयत्न किया था, किन्तु उत्पादन की स्पर्धा ने इस पक्ष को कमजोर कर दिया। विकास संबंधी निर्णयों में सहभागिता का प्रयत्न सत्ता के विकेन्द्रीकरण द्वारा किया गया था, पर विकेन्द्रित संस्थाओं को अपने आप को प्रमाणित करने का मौका ही नहीं मिला। राजीव

गाँधी ने अपने शासन के अंतिम वर्ष में पुनः इस दिशा में सुचिंतित प्रयत्न किया था, उनका प्रस्ताव संसद की स्वीकृति ही नहीं पा सका। लोग अपने विकास के निर्णय स्वयं नहीं ले सके, ऐसे निर्णय शासन के उच्च स्तर द्वारा लिए गए। यही स्थिति अब भी है। मान–सम्मान के निर्णय नौकरशाही के हाथ में थे जो खुद राजनीतिक दबावों में काम करती थी। नई अर्थनीति सामाजिक विषमताओं का अंत नहीं करेगी, शायद उन्हें बढ़ाए ही। इसलिए सामाजिक नियोजन आज के संदर्भ में और भी जरुरी हो गया है।

सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक धरातल पर देश में नए दबाव और तनाव विकसित हो रहे हैं। जनजातियों को असभ्य और जंगली माना जा रहा है। उनका आक्रोश स्वाभाविक है। दलितों को गरीबी का अभिशाप तो भुगतना पड़ ही रहा है, साथ ही अस्पृश्यता का अपमान भी उग्र रुप ले रहा है। उन्हें न व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त है, न आत्म गौरव। मण्डलीकरण ने एक नए जाति युद्ध की शुरुआत की है। धार्मिक सहिष्णुता का लोप हो रहा है, सांस्कृतिक और धार्मिक उन्माद पूरी व्यवस्था को हिला रहा है। इस स्थिति में अवकाश और उसके सृजनात्मक उपयोग की कल्पना ही बेमानी है। यदि इन प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं लगाया गया तो देश कहाँ जाएगा?

सामाजिक न्याय का सवाल कई रुपों में उठाया गया है। इस संबंध में अनेक आश्वासन भी दिए गए हैं। क्या इससे दलितों और वंचितों को कोई राहत मिली? यदि उनका आक्रोश और भी विस्फोटक रुप ले लेता है तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। शारीरिक और मानसिक रुप से विकलांगों के लिए भी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

यह निश्चित है कि देश वर्तमान की छोटी–छोटी समस्याओं में उलझा रहा और उसने भविष्य को भाग्य के भरोसे सौंप दिया। क्या हमें पूर्वानुमान था कि हालत इतनी तेजी से और इतनी अधिक बिगड़ेगी? यदि आने वाले संकटों की अग्रिम चेतावनी मिली भी तो हमारे पास उनका मुकाबला करने के कोई सार्थक दिशा निर्देश नहीं थे। प्रगति संबंधी आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए न हमारे पास सुसंगठित तंत्र है, न समर्पित भावना और प्रतिबद्धता। इस दिशा में बौद्धिक सामर्थ्य और दूरदर्शिता का विकास हमें आने वाले संकटों से बचा सकता है।

भारतीय परिदृश्य का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण हमें कुछ स्पष्ट दिशा संकेत देता है। एक, सामाजिक विकास की अवहेलना देश में और भी अस्थिरता लाकर प्रगति के मार्ग में नए अवरोध ला सकती है। दो, नई अर्थव्यवस्था का तिलस्म कभी भी टूट सकता है क्योंकि वह अनिश्चित विश्व व्यवस्था पर आधारित है। और तीन, हमें अपनी नई आर्थिक नीतियों को विलासिता के दलदल से बचा कर अधिक जनोन्मुख बनाना होगा। सामाजिक न्याय की माँग अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकती और उसके लिए सामाजिक विकास का पर्यावरण अनिवार्य है।

**सम्पादकीय टिप्पणीः प्रस्तुत लेख प्रसिद्ध समाजशास्त्री (स्वर्गीय) श्यामा चरण दुबे द्वारा 1992 में डा0 बाबा साहेब अम्बेडकर नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, महू में ''सोशल डवलपमेंट एण्ड जस्टिस'' विषय पर आयोजित राष्टीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में प्रस्तुत किया गया था। इस सत्र में मैं रैपोर्टियर था। क्योंकि लेख हिन्दी में था अतः संगोष्ठी की प्रोसिडिंग्स में मेरे द्वारा तैयार (इसका) संक्षिप्त सार अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया था। मेरे पास इसकी प्रति तभी से सुरक्षित रखी थी। यह लेख आज की परिस्थितियों में भी समसामयिक है। अतः हिंदी भाषा के पाठकों को उपलब्ध कराने हेतु इसे 'नवरचना' में प्रकाशित किया जा रहा है।*